ISSN - 2348-2397
UGC CARE LISTED JOURNAL
SIV
शोध सरिता
January-March, 2021
Vol. 8, Issue 29
Page Nos. 53-57
AN INTERNATIONAL BILINGUAL PEER REVIEWED REFEREED RESEARCH JOURNAL

हिंदी साहित्य को सुदृढ़ आधार प्रदान करता राजस्थान का साहित्य

डॉ० नवीन नंदवाना*

शोध सारांश

हिंदी का साहित्य सदियों से भारतीय प्राणधारा में निर्मल गंगा की तरह सतत प्रवाहमान है। इस भाषा के साहित्य की समृद्धि में जनपदीय बोलियों का विशेष योगदान रहा है। उत्तर भारत में कबीर ने इसी भाषा में चेतना जगाई तो राजस्थान में दादू, मीरां और सुंदरदास की वाणी बनकर फूटी, सूर, तुलसी और रसखान ने इसे पुष्पित–पल्लवित किया तो केशव, देव, बिहारी और पद्माकर के साथ आगे बढ़ी। महावीर की कलम से संस्कारित हो प्रसाद, पंत की कलम से निराली होकर महादेवी का शृंगार हुई। हिंदी के इस साहित्यिक व भाषिक वैशिष्ट्य का जो वैभवशाली स्वरूप हम आज देख रहे हैं, इसके निर्माण में हमारे देश की अनेक जनपदों और जनपदीय बोलियों ने अपनी महती भूमिका निभाई है। इन बोलियों के विराट वैभव को समाहित किए बिना हम हिंदी के इस विराट स्वरूप की कल्पना भी नहीं कर सकते हैं। राजस्थान और राजस्थानी की विविध बोलियाँ भी हिंदी साहित्य की श्रीवृद्धि में अपना बहुमूल्य योगदान दिया है। हिंदी के प्राचीनकालीन ग्रंथों में राजस्थान की महक विद्यमान है। राजस्थान ने हिंदी को विविध रचनाओं रूपी निधियाँ समर्पित कर सुदृढ़ आधार प्रदान किया है। 'ढोला--मारू रा दूहा' उनमें से एक है। रासो परम्परा और प्रेमाख्यान परम्परा के रूप में भी हिंदी को राजस्थान ने अपना योगदान दिया। रीतिकाल में भी कई कवि राजस्थान से जुड़े रहे जिन्होंने साहित्य की श्रीवृद्धि में अपनी महती भूमिका निभाई।

Keywords : राजस्थान, जनपदीय बोलियाँ, रासो साहित्य, प्रेमाख्यान काव्य, दूहा आदि।

"इदमन्धन्तमः कृत्स्नं जायते भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते।।"

महाकवि दण्डी अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'काव्यादर्श' में स्वीकारते है कि स्पष्ट है कि शब्द नाम की ज्योति न होने पर समस्त संसार अंधकारपूर्ण हो जाता। हिंदी भाषा हमारी पहचान है और संस्कृति की सवाहिका है। इसे हम किसी प्रांत, सम्प्रदाय, जाति और धर्म विशेष की भाषा नहीं कह सकते हैं। यह हिंदुस्तान की भाषा है और आज हमारी यह भाषा केवल हमारे देश की भौगोलिक सीमाओं तक ही रूकी नहीं है बल्कि सारपूर्ण विश्व मे अपनी पहचान बना रही है।

हिंदी का साहित्य सदियों से भारतीय प्राणधारा में निर्मल गंगा की तरह सतत प्रवाहमान है। इस भाषा के साहित्य की समृद्धि मे विविध धर्मावलंबियों व जनपदीय बोलियों का विशेष योगदान रहा है। यहाँ चंदबरदाई ने 'पृथ्वीराजरासो' की रचना की तो अब्दुल रहमान ने 'संदेशरासक' रचा। उत्तर भारत में कबीर ने इसी भाषा में चेतना जगाई तो राजस्थान में दादू, मीरां और सुंदरदास की वाणी बनकर फूटी। सूर, तुलसी और रसखान ने इसे पुष्पित--पल्लवित किया तो केशव, देव, बिहारी और पद्माकर के साथ आगे बढ़ते हुए भारतेंदु सिद्ध हुई। महावीर की कलम से संस्कारित हो प्रसाद, पंत की कलम से निराली होकर महादेवी का शृंगार हुई। दिनकर, प्रेमचंद, नागार्जुन और अज्ञेय जैसे रचनाकारों की कलम ने माँ भारती के भाल की इस बिंदी अर्थात हिंदी को वैश्विक पटल पर विशेष पहचान दिलाई।

हिंदी के इस साहित्यिक व भाषिक वैशिष्ट्य का जो वैभवशाली स्वरूप हम आज देख रहे हैं, इसके निर्माण में हमारे देश की अनेक जनपदों और जनपदीय बोलियों ने अपनी महती भूमिका निभाई है। इन बोलियों के विराट वैभव को समाहित किए बिना हम हिंदी के इस विराट स्वरूप की कल्पना भी नहीं कर सकते हैं। "वस्तुतः हिंदी एक बहुभाषिक उपस्थिति है– बहुशैलीय रूप है– वह किसी एक प्रांत की भाषा नहीं। यह सबको लेकर चलने वाली भाषा है। और फिर मत भूलिए– एक बहुभाशीय देश में कोड मिश्रण नियम है, अपवाद नहीं : कालिदास, गुरु ग्रंथसाहिब, अमीर खुसरो, विद्यापति की रचनाओं में दो–तीन भाशाओं का प्रयोग किया गया है। यह कृत्रिमता का लक्षण नहीं, भाशा का तोड़–मोड़ नहीं है। बहुभाशिक देश का यह यथार्थ है।"

राजस्थान और राजस्थानी की विविध बोलियों भी हिंदी साहित्य की श्रीवृद्धि में अपना बहुमूल्य योगदान दिया है। हिंदी के प्राचीनकालीन ग्रंथों में राजस्थान की महक विद्यमान है। यह भाशा आजादी से पूर्व कई नामों से जानी जाती थी। 'कुवलयमालाकहा' (उद्योतनसूरि) में इसे 'मरूभाशा' कहा गया तो 'पिंगलशिरोमणि' (कुशललाभ) व 'आईने अकबरी' (अबुल फ़जल) में इसके लिए 'मारवाड़ी' नाम प्रयुक्त हुआ है। इसे 'मरूभाशा' व 'मरूवाणी' आदि नामों से भी जाना गया। राजस्थान में एक कहावत भी प्रचलित है– 'चार कोस पर पानी बदले, आठ कोस पर बानी।' यह सही भी लगता है, क्योंकि जब हम राजस्थानी की बात करते हैं तो हम संपूर्ण राजस्थान में कई बोलियाँ व्यवहृत होते भी देख–सुन सकते हैं।

राजस्थान व उसकी बोलियों पर विचार करते हुए हमें वर्तमान राजस्थान की भौगोलिक सीमाओं को ही ध्यान नहीं रखना चाहिए बल्कि उसे एक सांस्कृतिक ईकाई के रूप में समझना चाहिए। उदयनारायण तिवारी अपनी पुस्तक 'हिंदी भाशा का उद्गम व विकास' में लिखते हैं कि– "राजस्थानी भाशा, राजस्थान प्रदेश के निवासियों की मातृभाशा है। राजस्थान से हमारा तात्पर्य वर्तमान सीमाओं से न होकर सांस्कृतिक व भाशिक इंकाई से है, जिसका वर्तमान क्षेत्र राजस्थान से विस्तृत है।"

राजस्थानी जिसमें मेवाड़ी, मारवाड़ी, ढूँढाड़ी, हाड़ौती, वागड़ी, मालवी और मेवाती आदि बोलियाँ–उपबोलियाँ आती हैं। "हिंदी के आदिकाल और भक्तिकाल की सुदृढ़ नींव राजस्थानी भाशा के साहित्य पर ही टिकी हुई है। .....राजस्थानी का हस्तलिखित साहित्य भी विविध रूपात्मक मिलता है, जो गुणात्मक दृश्टि से काफी समृद्ध है। राजस्थानी ने साहित्य की कुछ नई विधाएँ भी दी हैं। डिंगल गीत उसके अपने हैं। वचनिका और दवावैत जैसा तुकांत गद्य और किसी भाशा में उपलब्ध नही होता। हिंदी में कहानी विधा की उम्र साठ वर्श (वर्तमान तक लगभग 120 वर्श) से अधिक नहीं है, लेकिन राजस्थानी का 'वात साहित्य' चार सौ वर्श से भी ज्यादा पुराना उपलब्ध है।" अतः हिंदी को राजस्थान, राजस्थानी व उसकी बोलियों से पृथक करके नहीं देखा जाना चाहिए।

राजस्थान में डिंगल व पिंगल साहित्य की भी चर्चा होती है। राजस्थानी का एक रूप 'डिंगल' कहलाता है। मारवाड़ी बोली के लिए प्रयुक्त किया जाने वाला यह शब्द 'डींगळ' कहलाता था जो कालांतर में 'डिंगल' नाम से बोला जाने लगा। राजस्थान का डिंगल साहित्य गद्य व पद्य दोनों में मिलता है। गद्य में यह ख्यात, वात, विगत, पीढ़ी और वंशावली रूपों में मिलता है, वहीं पद्य में यह चरित्र–रासो, प्रकास, विलास, रूपक, वचनिका के रूप में चरित नायकों के नाम पर तथा नीसांणी, झूलणा, वेल, झमाल, गीत, कवित्त, दूहा आदि छंदों के नाम पर मिलता है। राजस्थान व राजस्थानी में 'पिंगल' शब्द भी प्रयुक्त होता है। यह वास्तव में छंदशास्त्र को दर्शाता है। राजस्थान में यह ब्रजभाशा के लिए भी प्रयुक्त किया जाता रहा है। वर्तमान में राजस्थानी मिश्रित ब्रजभाशा के लिए व्यवहृत होता है।

राजस्थान ने हिंदी को विविध रचनाओं रूपी निधियाँ समर्पित कर सुदृढ़ आधार प्रदान किया है। 'ढोला–मारू रा दूहा' उनमें से एक है। यह एक ऐसा काव्य है जो जन–जन के कंठ का कंठहार बना। इसे राजस्थान का जातीय काव्य कहा जा सकता है। मर्यादित शृंगार से युक्त यह रचना जगत में प्रसिद्धि पा गई। इसके संबंध में यह दोहा भी प्रचलित है–

"सोरठियो दूहो भलो, भलि मरवण री बात।
जोबन छाई धण भली, तारॉं–छाई रात।।"

कछवाह वंश के राजा नल के पुत्र ढोला व पूंगल के राजा पिंगल की कन्या मारवणी की प्रेमगाथा हिंदी साहित्य जगत में अमर हो गई। प्रेम की इस अनूठी गाथा में मारवणी के सौंदर्य व शील का वर्णन पूरी पवित्रता के साथ किया गया है। विशय–वासनाओं के संकुचित दायरे को त्यागते हुए निश्कलुश पवित्र सौंदर्य का वर्णन द्रश्टव्य है–

"गति गंगा, मति सरसती, सीता सील सुभाइ।
महिलाँ सरहर–मारूई, अवर न दूजी काई।।
नमणी, खमणी, बहुगुणी, सुकोमळी जु सुकच्छ।
गोरी गंगा नीर ज्यूँ, मन गरवी, तन अच्छ।।
रूप अनूपम मारवी, सुगुणी नयन सुचंग।
सा धण इण परि राखिजइ, जिन सिव मसतक गंग।।"

रचना में प्रेम के संयोग व वियोग पक्ष, मारवणी का संदेश, मालवणी का विरह, यात्रा और ऋतु वर्णन आदि की श्रेश्ठता द्रश्टव्य होती है। आदिकालीन हिंदी प्रेमगाथाओं की में यह रचना अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

राजस्थान की विविध बोलियों का साहित्य हिंदी के आदिकालीन साहित्य की आधारभूमि है। मोतीलाल मेनारिया लिखते हैं कि– "इस युग के साहित्य–सृजन में जैन मतावलंबियों का हाथ विशेश रहा है। कोई पचास के लगभग जैन साहित्यकारों के ग्रंथों का पता है। परंतु जैन विद्वानों का यह प्रचुर साहित्य जितना भाशा शास्त्र की दृश्टि से महत्त्वपूर्ण है, उतना साहित्य की दृश्टि से नहीं है, यद्यपि साहित्यिक सौंदर्य भी यत्र–तत्र दृश्टिगोचर होता है। इस काल की बहुत–सी जैन रचनाओं को तो उ संप्रदाय वालों ने नश्ट होने से बचा लिया है, पर किसी संप्रदाय अथवा समाज विशेश का सहारा न होने से जैनेतर रचनाएँ अधिकतर नश्ट हो गई हैं ; और थोड़ी–बहुत जो बची हैं, वे अ तक पूरी तरह प्रकाश में नहीं आ पाई हैं।"

आदिकालीन हिंदी साहित्य में रासो काव्य की एक वि परम्परा रही है। यह काव्यधारा इतनी वेगवती व प्रभावान थी आचार्य शुक्ल जैसे साहित्य के इतिहासकारों ने इस कालखं नाम 'वीरगाथा काल' ही कर दिया। रासो काव्यों में वर्णित वर्णन के कारण विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने इस कालखं

*सह आचार्य – हिंदी विभाग, माणिक्यलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर (राजस्थान)

'वीरकाव्य' कह दिया। रासो परम्परा का प्रारंभिक ग्रंथ दलपति विजय कृत 'खुमाणरासो' है। आठ खंडो मे रचित इस ग्रंथ में बप्पारावल (संवत 791) से लेकर ख्माराणा राजसिंह (संवत 1709–37) तक का वर्णन मिलता है।

'बीसलदेवरासो' हिंदी की आदिकालीन रचनाओं में विशिष्ट पहचान रखता है। इसकी रचना विग्रहराज चतुर्थ उपनाम बीसलदेव के राजकवि नरपति नाल्ह ने की थी। ग्रंथ में सौभर के बीसलदेव का विवाह, मालवा के भोज परमार की पुत्री राजमती के साथ दर्शाते हुए उनके विवाह, वियोग व पुनर्मिलन की गाथा वर्णित की है। घटनाओं व तिथियों को लेकर जरूर मतभेद है। किंतु इसकी भाषा के विशय में आचार्य रामचंद्र शुक्ल लिखते हैं कि– "भाषा की परीक्षा करके देखते हैं तो वह साहित्यिक नहीं है, राजस्थानी है। जैसे– सूकइ छै (= सूखता है), पाटण थीं (= पाटण से), भोज तणा (= भोज का), खंड खंडरा (= खंड–खंड का) इत्यादि। इस ग्रंथ से एक बात का आभास मिलता है वह यह कि शिष्ट काव्यभाशा मे ब्रज और खड़ी बोली के प्राचीन रूप का ही राजस्थान मे भी व्यवहार होता था। साहित्य की सामान्य जनभाशा 'हिंदी' ही थी, जो पिंगल भाशा कहलाती थी। बीसलदेव रासो मे बीच–बीच मे बराबर इस साहित्यिक भाशा (हिंदी) को मिलाने का प्रयत्न दिखाई पड़ता है।" बीसलदेवरासो की भाशा को हम इस उदाहरण से भी समझ सकते हैं–

"गरुवि न बोलो हो सांभरणो–राव। तो सरीखा घणा ओर भुवाल।।

एक लखीरस का धणी। बचन हमारइ तू मानि जु मानि।।

जूँ थारइ सागर उगगहइ। राजा उगि घरि उगहइ हीरा–खान।।"

हिंदी के प्रथम महाकवि चंदबरदाई द्वारा रचित प्रथम महाकाव्य 'पृथ्वीराजरासो' का भी स्मरण करना यहाँ आवश्यक है। यह ग्रंथ भी अपनी घटनाओं, कालक्रम आदि को लेकर विद्वानों के बीच विवाद का विशय बना रहा। मोतीलाल मेनारिया, इसके महाकाव्यत्व व भाशा पर विचार करते हुए लिखते हैं कि– "साहित्य की दृष्टि से रासो एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। यह एक महाकाव्य है। इसमें एक लाख छंद हैं और 69 प्रस्ताव (समय)। भाशा इसकी पिंगल अर्थात् राजस्थानी मिश्रित ब्रजभाशा है जिस पर प्राकृत अपभ्रंश, अरबी–फारसी आदि का भी रंग यत्र–तत्र लगा हुआ है। इसमें त्रोटक, दोहा, पद्धरि, गाहा, तोमर, भुजंगी आदि अनेक प्रकार के छंद प्रयुक्त हुए हैं। पर कवित (छप्पय) की संख्या सबसे अधिक है। कविता रासो की बहुत सबल, रोचक्तापूर्ण एवं अर्थ–गौरवपूर्ण है।"

शाङ्गधर नामक कवि द्वारा रचित 'हम्मीररासो' नामक ग्रंथ भी उल्लेखनीय है। यह ग्रंथ तो नही मिलता किंतु इसके कुछ पद 'प्राकृतपैंगलम' नामक ग्रंथ मे मिलते हैं। इसी तरह ईडर के राजा रणमल्ल के समकालीन कवि श्रीधर ने भी रणमल्लछंद' (संवत 1457 लगभग) की रचना की जिसमे पाटण के सूबेदार जफरखाँ और रणमल्ल के युद्ध का वर्णन है। इसी प्रकार विजयगढ (करौली राज्य) के यदुवंशी राजा विजयपाल की दिग्विजय और पंग की लड़ाई का वर्णन कवि नल्लसिंह ने 'विजयपालरासो' में किया।

आदिकालीन हिंदी साहित्य की रचनाओं में 'राउलवेल' एक चर्चित कृति है। यह गद्य–पद्य मिश्रित चंपू काव्य की प्राचीनतम कृति है जो कि शिलांकित है। रोड़ा नामक कवि द्वारा रचित इस कृति से हिंदी में नखशिख वर्णन की परम्परा प्रारंभ होती है। हिंदी की सात बोलियों में रचित इस रचना की प्रधान भाशा राजस्थानी है।

हिंदी की प्रेमाख्यान परम्परा को भी राजस्थानी ने अपना विशेश योगदान दिया है। कालक्रम की दृष्टि से इस परम्परा का प्रथम ग्रंथ असाइत द्वारा रचित 'हंसावली' (1370 ई.) को माना जाता है। इस ग्रंथ में राजस्थानी का प्राचीन रूप मिलता है। कुशललाभ द्वारा रचित 'माधवानल कामकंदला चौपाई' (1556), नारायण दास द्वारा रचित 'छिताई वार्ता' (1590) भी राजस्थानी में रचित है। "भक्तिकालीन प्रेमाख्यान काव्यों की भाशा के संबंध में पहले यह समझा गया था कि सभी प्रेमाख्यान अवधी भाशा में रचित हैं, किंतु अब यह स्पश्ट हो गया है कि अवधी के अतिरिक्त राजस्थानी एवं ब्रजभाशा में भी कई आख्यान लिखे गए थे। वस्तुतः यह परम्परा गुजरात व राजस्थान से होती हुई अवध प्रदेश में पहुँची है ; अतः प्रारंभिक आख्यानों में से अनेक ने राजस्थानी– जो कहीं–कहीं गुजराती से भी यथेश्ट प्रभावित है– का भी प्रयोग मिलता है। जैसे कि 'हंसावली' (असाइत), 'लखनसेन पद्मावती कथा' (दामोदर), 'माधवानल कामकंदला (गणपति), 'ढोला–मारू रा दूहा', 'माधवानल कामकंदला (कुशललाभ) 'प्रेमविलास–प्रेमलता की कथा' (जटमल) आदि की भाशा राजस्थानी है।"

वहीं मीरा के स्मरण के बिना बात अधूरी रहेगी। मरू–मंदाकिनी मीरा की कविता भक्ति व आदर्श प्रेम की कविता है। मध्यकाल में ही मीरा ने भक्ति के साथ–साथ नारी–मुक्ति का संदेश दिया। मीरा आज भी लोकजीवन में रची–बसी है। मीरा के पदों की संख्या का ठीक–ठीक निर्धारण अभी तक नहीं हो पाया है। उनके पदों की भाशा भी विविध रूपा है। पद्मश्री सीताराम लालस लिखते हैं कि– "सबसे बड़ी समस्या यह है कि मीराबाई के पदों की भाशा एक ही प्रकार की नहीं है। बहुत से ऐसे पद हैं जो ठेठ राजस्थानी के कहे जा सकते हैं। किंतु कुछ पर गुजराती व ब्रजभाशा का भी प्रभाव है। कहीं–कहीं पंजाबी, खड़ी बोली एवं पूरबी तक का न्यूनाधिक मिश्रण है। ..... इन्होंने मेवाड़, मेड़ता, द्वारिका, वृंदावन आदि अनेक स्थानों पर निवास किया था, अतः उन स्थानों की बोलियों तथा भाशाओं का प्रभाव इनके पदों पर पड़ना स्वाभाविक है।" मीरा के पदो का अध्ययन कर हम उसकी

भाशा व भक्ति–वैशिश्ट्य दोनों को समझ सकते हैं।

"स्यांम मिळण री घणी उमावौ, नित उठ जोऊं वाटड़ियाँ।
दरस बिना मोहि कछु न सुहावै, जक न पड़त है आँखड़ियाँ।।
तळफत–तळफत बहु दिन बीता, पड़ी विरह की पासड़ियाँ।
अब तौ बेगि दया करि साहिब, मैं तो तुमरि दासड़ियाँ।।"

हिंदी की संतकाव्य परम्परा को भी राजस्थान व राजस्थानी ने अपना बहुमूल्य योगदान दिया है। संत दादूदयाल, रज्जब, सुंदरदास, दयाबाई, सहजोबाई आदि अनेक संत–भक्तों का कर्म व भक्ति क्षेत्र राजस्थान ही रहा है। अतः इनकी भाशा पर सहज रूप में ही राजस्थानी का प्रभाव द्रश्टव्य होता है। संतों की भाशा के संबंध में डॉ. परशुराम चतुर्वेदी लिखते हैं कि– "संत मत ने किसी उच्च और शिष्ट श्रेणी या वर्ग तक सीमित न रहकर अपना संबंध सीधे जनसाधारण से रखा और वह विशेष रूप से दीन, दुःखी, दलित, पतित जनों के उद्धार में अपने ढंग से प्रवृत्त हुआ। इसीलिए स्वभावतः उसने वेद, शास्त्र और काव्यों की शिष्ट भाषा संस्कृत को, जिनके पठन–पाठन की सुविधा सर्वसाधारण को सुलभ न थी, छोड़कर लोक भाषा का सहारा लिया। फलतः उक्त संतों की रचनाएँ हमें उस समय की हिंदी भाषा में मिलती है। संतों की हिंदी का रूप बहुत कुछ अंतः प्रांतीय और सार्वदेशिक था। उसमें ब्रज और अवधी के साथ खड़ी बोली और राजस्थानी का भी मेल पाया जाता है। इस कारण इसे 'सधुक्कड़ी' नाम भी दिया गया है।"

कबीर सच्चे लोकनायक थे। उनकी भाशा लोकजीवन की भाशा है। उनका लोक व्यापक लोक था जो बिहार से लेकर राजस्थान तक विस्तृत था। उनकी कविता में खड़ी बोली के शब्दों के साथ–साथ अवधी, ब्रज, राजस्थानी, भोजपुरी आदि बोलियों के शब्द प्रयुक्त हुए हैं। उनके यहाँ राजस्थानी की भी उपस्थिति है। ये कहते हैं–

"आंखडियाँ झाँई पड़ी, पंथ निहारी निहारी।
जिभड़ियाँ छाला पड़या, राम पुकारि पुकारि।।"

यहाँ इस दोहे में प्रयुक्त 'आँखड़ियाँ', 'झाँई पड़ना', 'जिभड़ियाँ', 'छाला पड़ना' आदि राजस्थानी शब्द प्रयुक्त हुए हैं। संत दादूदयाल व राजस्थान के अन्य संतों का काव्य राजस्थानी को अपनाते हुए अपनी बात जन–जन तक पहुँचाता है। दादू कहते हैं कि–

"दादू लाइक हम नहीं, हरि के दरसन जोग।
बिन देखे मरि जाहिंगे, पिव है विरह वियोग।।
× × ×
रात दिवस का रोवणा, पहर पलक का नांहि।
रोवत–रोवत मिलि गया, दादू साहिब मांहि।।"

दादूपंथ के अतिरिक्त चरणदासी पंथ, रामस्नेही पंथ, निरंजनी पंथ व लालदासी पंथ आदि का संबंध भी राजस्थान से रहा है। यह इस बात को सिद्ध करता है कि इस जनपद ने भी हिंदी साहित्य को अपना बहुमूल्य योगदान दिया है। राजस्थान के चारण कवियों में सूर्यमल मिस्रण ने भी साहित्य को विशेश योगदान दिया। उनकी रचनाएँ 'वंश भास्कर', 'वीर सतसई', 'बलवंत विलास', 'छंदोमयूख' और 'रामरंजाट' आदि प्रमुख है। 'राजिया के दोहे' राजस्थान भर में प्रसिद्ध हैं। नीति व उपदेश की बात कहने वाले इस काव्य की रचना कृपाराम ने की है।

"पाटा पीड़ उपाव, तन लागाँ तरवरियाँ।
बहै जीभ रा घाव, रती न ओसाद राजिया।।"

पृथ्वीराज द्वारा रचित 'वेली किसन रूकमणी री' भी राजस्थानी की एक ख्यात रचना है। बावजी चतरसिंह जी का स्मरण संपूर्ण राजस्थान करता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि हिंदी साहित्य की श्रीवृद्धि में राजस्थान, राजस्थानी व यहाँ की अन्य बोलियों का विशेश योगदान रहा है। राजस्थान के साहित्य के बिना हिंदी साहित्य के वैभव की कल्पना भी संभव नहीं है। जिस प्रकार आभूशण में जड़ा एक–एक नगीना चाहे वह कितना ही छोटा या बड़ा हो, सब मिलकर उस आभूशण का सौंदर्य प्रदर्शित करते हैं। ठीक उसी प्रकार भारत के विविध जनपदों की एक–एक बोली मिलकर हिंदी का विराट वैभव प्रदर्शित करती है। निर्मल वर्मा का मत है कि– "भाशा सिर्फ विचारों, विश्वासों और सिद्धांतो को प्रकट करने का माध्यम नहीं होती बल्कि उसमें एक जाति के सांस्कृतिक बिंब, ऐतिहासिक स्मृतियों और पारम्परिक संस्कारों के मूल स्वर अनुगूँजित होते हैं।" हमारी देश भाशाएँ व जनपदीय बोलियाँ इस समस्त सांस्कृतिक, ऐतिहासिक बिंबों के माध्यम से हमारी संस्कृति की अभिव्यक्ति प्रमुखता से करती है। इनका संरक्षण, संवर्द्धन जरूरी है। और इसके लेखन–पठन और दैनिक प्रयोग में हमें गर्व महसूस करना चाहिए। राजस्थान ने हिंदी को अमर आधार प्रदान किया है। एक सुदृढ़ साहित्यिक नींव बनाने में राजस्थान के हिंदी साहित्य कि विशेश योगदान रहा है। बात यदि भक्तिकाल के साहित्य से भी आगे बढ़ाई जाए तो आधुनिक साहित्य और समकालीन साहित्य में भी हम राजस्थान का सशक्त योगदान देख सकते हैं।

सन्दर्भ :–

1. कर्ण सिंह : भाशा विज्ञान, साहित्य भंडार, मेरठ, 2002, पृश्ठ 03
2. इंद्रनाथ चौधुरी : हिंदी आ चुकी है... (लेख), हिंदी भाशा : स्वरूप, शिक्षण, वैश्विकता, संपादक : कमलकिशोर गोयनका, राश्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत, नई दिल्ली, 2015, पृश्ठ 52–53
3. देव कोठारी (सं.) : राजस्थानी भाशा और उसकी बोलियाँ, साहित्य संस्थान, राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर, 1991,

पृष्ठ 12
4. वही, पृष्ठ 09
5. नरोत्तमदास स्वामी व अन्य : ढोला मारू रा दूहा, राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर, 2014, पृष्ठ 05
6. वही, पृष्ठ 153
7. मोतीलाल मेनारिया : राजस्थानी भाषा और साहित्य, राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर, 2014, पृष्ठ 64
8. रामचंद्र शुक्ल : हिंदी साहित्य का इतिहास, श्याम प्रकाशन, जयपुर, 2002, पृष्ठ 26
9. वही, पृष्ठ 27
10. मोतीलाल मेनारिया : राजस्थानी भाषा और साहित्य, राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर, 2014, पृष्ठ 79
11. नगेंद्र (स.) : हिंदी साहित्य का इतिहास, मयूर पेपरबैक्स, नोएडा, 2000, पृष्ठ 162
12. सीताराम लालस : राजस्थानी व्याकरण और साहित्य का इतिहास, राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर, 2016, पृष्ठ 138
13. वही, पृष्ठ 138
14. परशुराम चतुर्वेदी (सं.), हिंदी साहित्य का वृहत इतिहास, चतुर्थ भाग, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, संवत 2025, पृष्ठ 104
15. श्यामसुंदर दास, सं. कबीर ग्रंथावली, विरह कौ अंग, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, संवत 2059, पृष्ठ 9
16. दादूदयाल की बानी, भाग–1, विरह को अंग, 3/92 व 136, बेलवीडियर प्रिंटिंग वर्क्स, इलाहाबाद, पृष्ठ 37 व 41
17. मोतीलाल मेनारिया : राजस्थानी भाषा और साहित्य, राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर, 2014, पृष्ठ 161
18. निर्मल वर्मा : साहित्य का आत्म सत्य, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2006, पृष्ठ 88

❐❐❐